

साहित्यिक विमर्श-स्मृति शेष

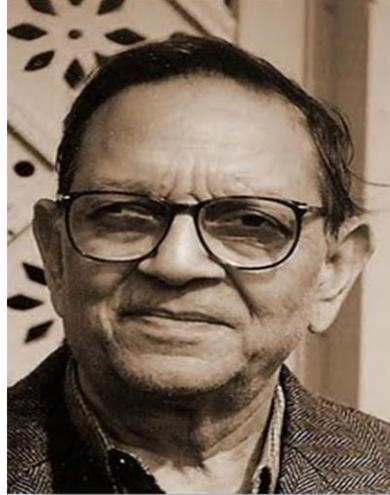
कुंवर नारायण का आलोचनात्मक चिंतन

डॉ. राकेश कुमार सिंह

कुंवर नारायण का आविर्भाव तीसरे सप्तक यानी आधुनिक भावबोध के बीच से हुआ। वे ऐसे कवि-आलोचक हैं जिन्होंने अपनी कविताओं और आलोचनात्मक वक्तव्यों के माध्यम से आधुनिक से समकालीन साहित्यिक परिदृश्य (विशेषकर कविता) में बहुत कुछ अतिरिक्त जोड़ा है। उनकी कविता और आलोचना दोनों में 'आज और आज से पहले' की रचनात्मक संवेदना को समझने में मददगार बहुत सारे बुनियादी तथ्य मौजूद हैं। इन तथ्यों को उचित उभार देकर स्थायी महत्व का बनाने की कोशिश में कुंवर नारायण ने भारतीय एवं वैश्विक ज्ञान की परंपरा की पुनर्व्याख्या को अपने समय की वैज्ञानिक

समझदारी से जोड़ने का अथक और अर्थपूर्ण प्रयास किया है।

यह प्रयास साहित्यको ऐसी वैज्ञानिक समझदारी से जोड़ने का कर्म है जिसमें 'सहिष्णु और उदार मनोवृत्ति'



है, "जो जीवन को किसी पूर्वाग्रह से पंगु करके नहीं देखती बल्कि उसके प्रति एक बहुमुखी सतर्कता बरतती है।" इसके लिए सिर्फ अनुभव ही नहीं बल्कि 'अनुभूति और मनन शक्ति' सम्यक और समानांतर तौर पर जरूरी है तभी 'अनुभव के प्रति

तीव्र और विचारपूर्ण प्रतिक्रिया' संभव हो सकती है जिससे कलाकार या वैज्ञानिक की मनःस्थिति 'संपूर्ण

मानव-परिस्थिति' के प्रति 'एक अनिवार्य वातावरण' का निर्माण करने योग्य हो सकती है। साहित्य और उसमें भी कविता को अर्नाल्ड की तरह 'जीवन की आलोचना' मानने वाले कुंवर नारायण आलोचक के लिए 'यथासंभव निष्पक्ष होना' और सार्थक उद्देश्यों से संचालित कवि के लिए 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' को लेकर जागरूक होना आवश्यक समझते हैं। वे कवि और वैज्ञानिक में 'बुनियादी जिज्ञासा' के स्तरपर भेद नहीं स्वीकार करते। इस बात की पुष्टि के क्रम में उनका तर्क है कि "जो बुनियादी जिज्ञासा एक वैज्ञानिक को, रूढ़ि की उपेक्षा करके भी यथार्थ की गूढ़ तहोंमें पैठने के लिए बाध्य करती है, खोज की वही रोमांचकारी प्रवृत्ति कवि को भी अज्ञात के विराट व्यक्तित्व में भटकाती रहती है। भौतिकशास्त्र के बहुत से सिद्धांत सूत्रबद्ध होने से पहले बहुत कुछ वैसी ही-सी मानसिक प्रक्रियाओं से गुजरते हैं जिनसे कविता भाषाबद्ध होने से पहलोलोदोनों में निकट काल्पनिक संबंध हैं क्योंकि दोनों ही एक विशेष प्रज्ञा द्वारा विश्वसनीय सत्य तक पहुंचना चाहते हैं।"²

इस आधारपर कविता में 'भाव, विचार और उसके संगठन' से संबंधित प्रयोग को वे वरीयता देते हैं। इस प्रयोग के पीछे काम करने वाली उनकी धारणा

प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में आधुनिक हिंदी साहित्य की भाषा 'खड़ी बोली' की विशिष्ट एवं विचित्र उपस्थिति की दशा से जुड़ी है। जिसका स्वरूप और प्रसार अर्द्ध-शिक्षित वर्ग की मनोदशा से ही निर्मित और संपृक्त हो पाया है न कि आम बोलचाल की भाषा से और न ही 'अधिक शिक्षित वर्ग' की भाषा से।

तीसरा सप्तक में भाषा, साहित्य और साहित्यिक विधा कविता के ऊपर कही गई उनकी बातें उनके आलोचनात्मक चेतना से युक्त निबंधों के संग्रह 'आज और आज से पहले' में कुछ बुनियादी बदलावों एवं नई वैचारिक-प्रक्रियाओं पर उनके पक्ष के साथ, विकसनशील रूप में अभिव्यक्त हुई है। जैसे: जहां वे तीसरा सप्तक की कविताओं के लिए लिखी गई भूमिका में हिंदी भाषा को न तो 'सामान्य वर्ग' और न तो 'अधिक शिक्षित वर्ग' से जुड़ा मानते हैं बल्कि 'अर्द्ध-शिक्षित वर्ग' की भाषा मानते हैं। लेकिन 'आज और आज से पहले' की भूमिका में लगभग 40 वर्षों बाद वे यह महसूस करते हैं कि आजादी के 50 वर्षों बाद भारतीय और उसमें भी हिंदी की खड़ी बोली और साहित्य ने इतने कम समय में एक पूर्ण और परिपक्व पहचान बना ली है।

²तीसरासप्तक, सं. अज्ञेय, पृ.सं. 155

वैचारिक परिवर्तन की इन स्थितियों के साथ ही वे 20वीं सदी की वैचारिक-बहसों के सार में 'उत्तर कथन' मौजूद पाते हैं। जिस पर उन्हें पश्चिमी विचार प्रणाली का गहरा दबाव महसूस होता है। जिसकी वजह से साहित्य का समग्र ढांचा ही प्रभावित हो रहा है। इस दबाव से बचने की जरूरत पर बल देते हुए उनका कहना है कि "लेकिन दुनिया का मतलब अब न तो सिर्फ पश्चिम रह गया है, न सबके साथ चलने का अर्थ सबकी तरह हो जाना है। साहित्य की चिंता, वैसे भी, सही फैसले की चिंता है जो हमें एक ज्यादा बड़े चिंतन-क्षेत्र में ले जाती है : जहां हम मनुष्य के कल्याण और समृद्धि के अर्थ को केवल भौतिक नहीं उससे ज्यादा बड़े परिप्रेक्ष्य में सोचते हैं।"³

साहित्य के सही फैसले की जो चिंता है वह उनके लिए उन जीवन मूल्यों की चिंता है जिसमें मनुष्य का हित अपने ऐसे व्यापक-वजूद के साथ मौजूद हो जिसकी वजह से उसकी रक्षा उसकी अपनी ज्यादातियों से होती रहे और दूसरों की ज्यादातियों के विरुद्ध भी वह स्टैंड ले सके। इसमें साहित्य की महत्वपूर्ण विधा आदिम समय से ही हमारी मदद करती आ रही है। लेकिन आज

इस विधा का अस्तित्व गहन आशंका के दायरे में आ चुका है। इसकी वजह है मास मीडिया।

कुंवर नारायण आशंका की इन वजहों को बेवजह मानते हैं। इस मामले में उनकी तार्किक प्रतिक्रिया यह है कि "सम्प्रेषण की तकनीकों का विकास शब्दों की दुनिया के लिए किसी प्रकार का खतरा नहीं है। शब्दों का बहुत बड़ा संसार है : कविता की उसमें एक छोटी-सी लेकिन अनिवार्य जगह बनती है – कहीं हमारे दिल, दिमाग और आत्मा के बहुत नजदीककविता का उत्स जैविक है : उसके लक्षण हमारे जीवाश्मों में बसे हैं, हमारे हृदय की गति और लय की तरहा.....भाषा के पर्यावरण में कविता की मौजूदगी का तर्क जीवन-सापेक्ष है : उसके प्रेमी और प्रशंसक हमेशा रहेंगे- बहुत ज्यादा नहीं लेकिन बहुत समर्पित।"⁴

कविता के प्रति इसी समर्पित समर्थन के साथ-साथ उन्होंने इस पुस्तक में साहित्य और समाज के अन्य पक्षों और परिदृश्यों पर सजग, विचारोत्तेजक एवं संतुलित स्वभाव के साथ अपने आलोचनात्मक-दृष्टिकोण को व्यक्त किया है। इस पुस्तक में चार भाग हैं जिसके पहले भाग में साहित्य और समाज में परंपरा की पुनर्व्याख्या से लेकर मनुष्य के अंदर और बाहर की

³आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली - 02, सं. 1998, आवृत्ति: 1999, पृ.सं.7

⁴वही, पृ.सं. 16

नैतिक उपस्थिति के आयामों के ऊपर अपनी समवस्यक वैचारिक बहसों को आधार बनाने के बावजूद भी सधे हुए एप्रोच के साथ टिप्पणियां की गई हैं।

इस पुस्तक का पहला निबंध 'सुदूर अतीत का दबाव : परंपरा की पुनर्व्याख्या' सिर्फ भारतीय परंपरा की पुनर्व्याख्या न होकर उसके बहाने भाषा, साहित्य और उसमें भी कविता की संस्कृति के ऊपर गहन बौद्धिकता से युक्त टिप्पणी है। कुंवर नारायण यह मानकर चलते हैं कि उनका 'कवि के रूप' में, अपने आपको महसूस करने का पहला अनुभव, भारतीय परंपरा और संस्कृति के पहले अनुभव से समानांतर रूप में जुड़ा हुआ है क्योंकि कविता भाषा, जीवन, जीवित वर्तमान अनुभव तथा स्मृतियों का संश्लिष्ट रूप है। कविता की भाषा के रूप में वर्तमान समय-संदर्भ में जिस भाषा का उपयोगी प्रयोग हम कर रहे हैं; उसकी जड़ें संस्कृत, उत्तर भारत की स्थानीय बोलियों, फारसी तथा अरबी जैसी इस्लामी भाषाओं के अलावा अंग्रेजों के बढ़ते वर्चस्व और उनकी भाषा के द्वारा भारतीय सामाजिक-संरचना के हर आयाम में किए गए गहरे औपनिवेशिक हस्तक्षेप में हैं।

इन सभी 'अभारतीय स्रोतों से अर्जित तत्वों का होना' स्वाभाविक ही है। कारण यह है कि ये हमारी ऐतिहासिक-संस्कृति के विशिष्ट पड़ाव रहे हैं जो भारतीय मानव और उसकी मनोवृत्ति में स्वाभाविक या शिक्षित मानसिकता के साथ जुड़े हुए रहे हैं और आज भी इनकी उपस्थिति कमोबेश बनी हुई है। इस आधार पर "देखा जाए तो कविता पर आधुनिकतावादी आंदोलन का विश्वव्यापी प्रभाव पड़ा, फिर भी प्रत्येक भाषाकी आधुनिक कविता ने अपनी पहचान कराने वाली विशेषताओं को सुरक्षित रखा।"⁵ उनकी माने तो इसी रूप में भारत की अन्य कलाओं ने भी प्रभाव ग्रहण की प्रक्रिया को आज तक अपनाया है।

जब बात साहित्यिक लेखन की अभिव्यक्ति के स्वभाव की आती है तो वे यह मानकर चलते हैं कि भारतीय इतिहास और उसकी संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया में 'बहुजातीय तथा बहुसांस्कृतिक अर्थ' आधारभूत संरचना का अहम हिस्सा रहा है इसलिए लेखक की अभिव्यक्ति न तो इससे इतर हो सकती है न ही समग्रता में ठोस और मूर्त। भारतीय सामाजिक-संस्कृति पर कोई लेखक इसलिए ठोस और मूर्त रचनात्मक-प्रतिक्रिया नहीं कर सकता क्योंकि 'विविधतापूर्ण अतीत का अर्थ आवश्यक रूप से एक

⁵आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 22

सुदृढ़ और निरंतर परंपरा' की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उसकी संरचनागत कड़ियों में 'खामियों और सुधारों के निशान' का होना बहुत हद तक गैर जरूरी है। 'खामियों और सुधारों' की विकासशील परंपरा वे हिंदी आलोचना में पाते हैं जिसका रचनात्मक-साहित्य से संवाद काफी विवादास्पद होने के साथ-साथ दिलचस्प भी रहा है। इस संदर्भ में वे आचार्य शुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि का उदाहरण देते हैं। वे इस बात से इनकार नहीं करते कि हिंदी आलोचना आचार्यशुक्ल और महावीर प्रसाद द्विवेदी जैसे आलोचकों के द्वारा ही 'पैनीऔर विश्लेषणात्मक' हुई। पर इन दोनों आलोचकों की 'साहित्यिक रुचि' मूल रूप में संस्कृत और रीतिकालीन कविता से ही बद्ध रही। यह सीमित दृष्टि का ही परिणाम था कि आचार्य शुक्ल छायावादी कविता के नए स्वरूप को समझने में चूक गये। वहीं महावीर प्रसाद द्विवेदी के काव्य-संसार की बनावट भी आज की कविता की बनावट से मेल नहीं खाता। वे भी वर्तमान काव्यानुभूति तथा उसकी संरचना को शायद ही स्वीकार कर पाते। अपने समय के दायरे में उत्पन्न साहित्य के स्वभाव को आलोचकों द्वारा नहीं समझ सकने के पीछे जो कारण है वह यह है कि "जीवन के बदलते हुए संदर्भों के प्रति रचनात्मक चेतना जितनी

सजग रहती है, आलोचनात्मक चेतना उतनी सजग नहीं रह पाती। संभवतः इसीलिए नए साहित्य के अनुरूप समीक्षा भी पहले रचनात्मक क्षेत्र से आती है, बाद में विशुद्ध समीक्षा के क्षेत्र से।"⁶

जिस तरह से रचनात्मक-साहित्य का अपना विशिष्ट संबंध आलोचना से होता है उसी तरह का संबंध रचनात्मक-साहित्य और अध्ययन से होता है। सामान्यतौर पर एक रचनाकार की रचनात्मक क्षमताको उसकी प्रतिभा और उससे मिलने वाली प्रेरणा से जोड़कर देखा जाता है। इसीलिए उसे अत्यधिक शिक्षित-प्रशिक्षित होना अनिवार्य नहीं माना जाता। लेकिन यह तर्क उनकी नजर में समकालीन 'रचनात्मक-प्रक्रिया' के परिप्रेक्ष्य में संगत प्रतीत नहीं होता। समकालीन रचनाकार बिना किसी 'प्रौढ़ साहित्यिक विवेक' के अपनी मौलिकता व्यक्त नहीं कर सकता। इसे प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि 'विविध विषयों में एक प्रबुद्ध रुचि' के साथ संलग्न हो सके। यह 'बौद्धिक संलग्नता' ही एक विशेष प्रकार के 'बौद्धिक संश्लेषण' को जन्म देती है जो समकालीन साहित्य के क्षेत्र में वैज्ञानिक जीवन दृष्टि' अर्जित करने में मदद करती है।

⁶आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 30-31

इससे रचनाकार का व्यक्तित्व 'अर्जित ज्ञान का मौलिक अर्थों में उपयोग' उचित संदर्भों के रूप में कर सकता है।

अर्जित ज्ञान की इसी अनुभव प्रक्रिया से गुजरकर ही कुंवर नारायण मनुष्य के 'उस मानसिक विकास तक पहुंचना' चाहते हैं जहां से 'हम मनुष्य की परिस्थितियों के स्रोत-कारणों' पर अपनी सघन समझ रख सके। समझदारी का यह स्वरूप एक रचनाकार की रचना-प्रक्रिया में व्यापक विवेकसम्मत सामाजिक-प्रतिबद्धता की उपस्थिति है। इस प्रक्रिया के अनुभव के क्रम में उनका आधुनिक अनुभव यही कहता है कि "साहित्य को न केवल सामाजिक होना है बल्कि विवेकशील ढंग से सामाजिक होना है,इसलिए आवश्यक है कि हम अपनी मान्यताओं के आधारों को दुहराएं, उन्हें दुहराने के बौद्धिक साधनों से परिचित हों, उन्हें दुहराने की आवश्यकता को समझें। यह तभी संभव है जब हमारी जानकारी का क्षेत्र भरसक विविध और विस्तृत हो।" ⁷ ऐसा तभी संभव हो सकता है जब रचनाकार मानस के अंदर जिज्ञासा का भाव 'आवश्यक ज्ञान से परिचित' होने की सतत प्रक्रिया में बना रहे। आज तथ्यों के व्यापक-विस्तार के बावजूद भी उन तक पहुंचना आसान और रोचक है।

जब बात आधुनिकता की आती है तो इन्हीं अर्थों में हम उसे पहचान सकते हैं। हालांकि आधुनिकता का सामान्य अर्थ 'वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति' से जुड़ा हुआ है परंतु हम इसे 'साहित्य और कलाओं में आधुनिकता' के अभिप्रायों से जोड़ सकते हैं क्योंकि इनमें इसका (आधुनिकता का) अर्थ मूलतः 'मानवीय संदर्भ' में अपनी पहचान ग्रहण करता है। इनमें यह मानवीय संदर्भ सिर्फ इसलिए भिन्न है कि 'तर्क और विश्लेषणमूलक सोच' ने 'भावनात्मक और धारणामूलक सोच' की जगह ले ली। इस सोच में जहां एक तरफ शुद्ध भौतिक यथार्थ की छानबीन शामिल है वहीं दूसरी तरफ 'तर्क, विवेचन, विश्लेषण, अन्वेषण, प्रयोगशीलता' का खास किस्म का गहरा तात्पर्य भी। इससे जब एक लेखक अपने 'तात्कालिक यथार्थ' से संवेदित और बौद्धिक अर्थों में जुड़ता है तो वह अपने समय के विचार, अपनी जमीन की स्थितियों दोनों को लेता है। इसी वजह से "बीसवीं सदी के मानवतावादी विचारकों की मुख्य चिंता यह रही कि आधुनिकता का अर्थ केवल भौतिक उन्नति से नहीं, आदमी की चेतना के विकास के साथ भी जुड़े और साहित्य तथा कलाओं में उसका पक्ष स्पष्ट और सशक्त उभरे।" ⁸ इस तरह से आधुनिकता को वे 'मूल्य' नहीं बल्कि 'मूल्य के प्रति

⁷आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 40-41

⁸आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 46-47

एक दृष्टि' के रूप में देखते हैं जिसका संबंध काल के किसी रूप से हो सकता है।

उनकी नजर में यह दृष्टि समाज एवं लेखक की रचना-प्रक्रिया को गहन एवं व्यापक अर्थों में लगभग 500 सालों से प्रभावित करती आ रही है। इस प्रक्रिया को हम 'अतीत या परंपरा' से अलग अनुभव के रूप में नहीं महसूस कर सकते क्योंकि मन हमेशागतिशील रहता है और वह भी अनेक दिशाओं में। कला अनुभव में अतीत और परंपरा के बोध को अनिवार्य मानते हुए वे इसे 'वर्ग सा' के चिंतन से जोड़ते हैं जो मानवीय अस्तित्व के बोध को 'एकत्र आभास' के रूप में परिभाषित करता है तथा रचना-प्रक्रिया में 'स्मृति चिंतन' को महत्वपूर्ण मानता है। वह हमेशा रचनात्मकता को समझने के लिए वैज्ञानिक तर्क शक्ति को महत्व नहीं देता। कारण वह रचनात्मकता की भाषा को 'चल से अचल में' रूपांतरित कर देती है। जबकि रचना-प्रक्रिया एक सतत प्रक्रिया है जिसमें रचनात्मक ऊर्जा का स्रोत हर क्षण प्रवाहमान रहता है। इसी तर्क के आधार पर क्रोचे ने कलात्मक स्वभाव और संरचना को 'तर्क शक्ति की अपेक्षा प्रज्ञा शक्ति' से समझनेकी जरूरत

पर बल दिया; जिसका समर्थन आगे चलकर 'रेन वेलेक' ने किया।

हिंदी साहित्य में आधुनिकता (खासकर कविता में) से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण विचारसूत्रों को रेखांकित करने के अलावा वे इसी क्रम में जब साहित्य में विचार की उपस्थिति पर विचार करते हैं तो उन्हें लगता है कि "साहित्य सिर्फ अपनी जमीन या जगह से ही नहीं अपने समय से भी जुड़े रहने की कोशिश है। अपने समय से जुड़े रहने का मतलब है अपने समय के प्रमुख विचारों से जुड़ना। इसके बिना हम अपने जमीन से जुड़े रहने को भी वह अतिरिक्त और जरूरी आयाम नहीं दे पाएंगे जो एक साहित्य को सार्वभौमिक और सार्वकालिक बनाता है।"⁹ और यह तभी संभव हो सकता है कि जब हम 'विचारशील' हों न कि 'विचारवादी'। इसके लिए जरूरी है – गहराई, निडरता और उदारता से सोच सकने की संघर्षशील क्षमता। इस क्षमता से ही विचार 'देशगत और कालगत' स्थितियों का अतिक्रमण कर सार्वभौमिक स्तर पर 'मनुष्य जाति की कुल वैचारिक संपदा' के महत्वपूर्ण अंश के साथ संपृक्त हो जाते हैं।

विचारों की स्थिति और उसकी जीवन-प्रक्रिया का प्रभाव कुछ भिन्न लेकिन अनिवार्य रूप से

⁹आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 66

समालोचना के व्यापक सरोकारों पर बना रहता है। समालोचना में हर समय या एक ही समय में एक साथ विविध विचार-दृष्टियों की स्थिति, परिवेश, वस्तु और आत्म के संदर्भों में उत्थान-पतन बराबर घटित होता रहता है। पर जब हम समालोचना के विचारों की 'अगर कोई विचारणीय जगह' तलाशेंगे तो वह 'जनतांत्रिक संदर्भ' बहुविध तरीकेसे अपनी सार्थक अस्मिता बरकरार रख सकता है। अगर किसी व्यवस्था में विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उचित माहौल न हो तो वह 'समालोचना और समीक्षा का वैज्ञानिक या नैतिक विकास' अवरूद्ध हो जाएगा। यह अवरोध समाज के विकासशील स्वरूप को भी कुंठित करेगा, क्योंकि ऐसे समाज में 'आत्म-निरीक्षण' की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है जिससे उसमें 'निरंकुशता और अनुशासनहीनता' का अनुकरण होने लगता है।

उनके अनुसार आत्म-निरीक्षण का यह परिप्रेक्ष्य समालोचना पर भी कई मामलों में इसी तरह लागू होता है जिसका अभाव लगभग आधुनिक भारतीय समीक्षा में पाया जाता है। संस्कृत समालोचना को छोड़ दिया जाए तो समालोचना का समुचित विकास बदलते भाषिक, साहित्यिक एवं सामाजिक संदर्भों में शायद इसीलिए नहीं हो पाया क्योंकि बदलाव की

प्रक्रिया के साथ-साथ न तो उनका पुनर्मूल्यांकन हो पाया और न ही उन्हें नए संदर्भों के अनुकूल 'अपडेट' किया गया। वे यह महसूस करते हैं कि वर्तमान में साहित्य और समालोचना पर राजनीति का चौतरफा दबदबा बढ़ा है, हालांकि साहित्य को वे उस समय भी समाज और राजनीति से निरपेक्ष नहीं मानते जब उसकी चेतना धर्म से बुनियादीतौर पर निर्धारित होती थी। उनके दृष्टिकोण से देखा जाए तो आज समीक्षा को सहयोगी प्रयास के रूप में कहीं ज्यादा अपनी उपस्थिति दर्ज करानी चाहिए। वर्तमान में "समालोचना की स्थिति जहां एक ओर साहित्य सापेक्ष बनती है वहीं, दूसरी ओर समाज या/और राजनीति-सापेक्ष भी। समालोचना के इस अधिकार पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता कि वह एक साहित्यिक रचना की विश्लेषण व्याख्या तो करे मगर उन विषयों पर अपनी कोई स्वतंत्र राय न दे जिन्हें रचनात्मक साहित्य उठाता है। इससे रचनात्मक साहित्य और समीक्षा के बीच सहयोगी स्थिति भी बन सकती है और टकराहट की स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है क्योंकि साहित्य को सोचते वक्त समीक्षा उन विषयों को भी सोचने के लिए बाध्य है जिन्हें साहित्य उठाता है।"¹⁰

¹⁰आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 77

यथार्थ और कविता के आत्मसंघर्ष में कवि की भूमिका का मामला भी विशिष्ट और अनिवार्य सा है। कविता की निर्माण-प्रक्रिया में यथार्थ का संपर्क उसके 'जीवन-विवेक' को गहरे दबाव के साथ प्रभावित करता है। उसकी निर्माण प्रक्रिया में यथार्थ का सूक्ष्म एवं संवेदनशील अवलोकन हो सकता है लेकिन उसकी पुनःनिर्मिति कवि की अंतर्दृष्टि के सहारे दूरदृष्टि में होती है। वह हमेशा 'जीवन यथार्थ और जीवन-सत्य' के बीच बारीक एवं व्यावहारिक अंतर निर्मित करती है जो कि कवि के दूरद्रष्टा होने की आत्मिक ताकत का परिणाम होता है। कुंवर नारायण इन बिंदुओं पर विचार करते हुए कहते हैं कि "एक कविमें अगर दूर तक सोच सकने की ताकत नहीं है तो उसकी कविता या तो यथार्थ की सतह को खरोचकर रह जाएगी, या किसी भी आदर्श से चिपककर। जब मैं जीवन-सत्य की बात करता हूं तो मेरा मतलब कविता के पीछे काम करने वाली उस सतर्क-बुद्धि संवेदनशीलता से होता है जो जिंदगी को तीव्रतम एहसासों और विवेक के स्तरों पर एक साथ जीने में सक्षम हो और सही जीवन-मूल्यों की पहचान करा सके।"¹¹ कविता में सार्थक जीवन-मूल्यों की सही जमीन यथार्थ के द्वारा काव्यात्मक रूप से उद्विग्न और किसी आदर्श के द्वारा आश्वस्तता के आंतरिक द्वंद्व से अपनी

अस्मिता बना पाती है। इसका प्रमाण उन्हें कबीर, गालिब या निराला की कविता में दिखाई देता है।

कविता या कला में निजी और सामाजिक के सवाल पर विचार करते हुए वे निजी और सामाजिक में 'बुनियादी विरोध' नहीं स्वीकार करते बल्कि 'निजी के साधारणीकरण की समस्या' को साहित्य या अन्य कलाओं की बुनियादी समस्या पर गंभीर विचार करने वाले प्राचीन विद्वानों को सही ठहराते हैं। इसके अलावा समकालीन कविता में वे आत्मसंघर्ष के अन्य स्तरों को भी देखते हैं। उनकी दृष्टि में आज की कविता में कवि के अंदर यथार्थ अपने क्षुब्धरूप में अंतर्द्वंद्व पैदा कर रहा है इसलिए वह एक तरफ उसके विरोध में कोई वाजिब प्रतिरोध ही दर्ज नहीं कर पाता क्योंकि एक स्तर पर उसका आत्म नष्ट होता है तो दूसरे स्तर पर उसका बाह्य भौतिक स्वरूप।

कवि के इस आत्म और भौतिक अस्तित्व के साथ वह भाषा भी जुड़ी हुई है जिसमें वह कविता रचता है। अगर इस भाषा का व्यवहारिक दुरुपयोग होता है तो कविता में उसके लिए 'विश्वसनीय जगह' बना पाना आत्यांतिक रूप में कठिन है। इस वजह से वे यह मानते हैं कि "कविता की एक लड़ाई स्वयं भाषा के गिरते हुए

¹¹ आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ. सं. 79

मूल्य को, उसकी स्वतंत्रता, प्रामाणिकता और ईमानदारी को बचाए रखने की कोशिश है।"¹² इसी प्रकार की तमाम ईमानदार कोशिश करते हुए अगर 'कविता मनुष्य के दिल और दिगाम' से जितना संवेदनशील और अर्थपूर्ण संबंध स्थापित करेगी तभी उसके जीवंत स्वरूप की साख बरकरार रहेगी। चूंकि मानवीय समाज में प्रचलित अन्य 'माध्यमों के मुकाबले' उसकी स्थिति नाजुक और विशिष्ट है जो कि उसकी स्वाभाविक सशक्तता भी है। विचार की इस दृष्टि के आधार पर ही वे कविता के महत्व को रेखांकित करते हुए कहते हैं कि "बदलते संदर्भों में मनुष्य के सबसे कम उद्धाटित या विलुप्त होते, जीवन-स्रोतों की खोज और भाषा में उनका संरक्षण शायद आज भी कविता की सबसे बड़ी ताकत है।"¹³

इन संदर्भों के जरिए भले ही कविता गंभीर और विशिष्ट पहचान बनाती हो लेकिन उसकी भाषा को जनता की रुचि के हिसाबसे कैसे देखा जाए यह एक उम्दा प्रश्न है। इस प्रश्न को कुंवर नारायण प्रतीकवादी मलार्मे, वलेरी और भाषाशास्त्री चॉमस्की के सिद्धांतों के दायरे में समझने की कोशिश करते हैं। वे 'शब्दों और भाषा की अपनी रचना शक्ति' के सामर्थ्य को स्वीकारते

हुए उसके सीखने की प्रक्रिया के पीछे 'रचनात्मक-प्रक्रिया' की प्रेरणा को मानते हैं। इसे चॉमस्की ने प्रजननात्मक सिद्धांत माना है। इसी कारण से रचनात्मक-प्रक्रिया में भाषा की उत्पत्ति स्वाभाविक रूप से होती है। इसीलिए एक ही समय में बोलचाल की और कला की भाषा का स्वभाव और प्रयोग बहुत हद तक भिन्न होता है।

साहित्य की भाषा, जनरुचि और संप्रेषण का अंतःसंबंध जिस तरह आसान और इकहरा नहीं है उसी तरह उसके राजनीतिक सरोकार और जुड़ाव भी प्रत्यक्ष और साधारण नहीं हैं। इस बारे में वे यह मानकर चलते हैं कि "राजनीति हमारे पूरे सांस्कृतिक-मन का प्रतिनिधित्व नहीं करती इसीलिए साहित्य अपनी पहचान जितना ही राजनीति से सटकर बनाएगा उतना ही वह उस जीवन से दूर पड़ जाएगा जो राजनीतिक नहीं है।दूसरे, अगर साहित्य की पहचान राजनीति के बहुत नजदीक बनती है तो राजनीति से उसका सीधा टकराव या सहमति अनिवार्य है औरदोनों ही हालतों में साहित्य दूसरे या तीसरे दर्जे की चेष्टा होकर रह जाएगा।"¹⁴ साहित्य और राजनीति के बारे में उनकी सोच साहित्य की स्वायत्तता और उसकी भाषायी

¹²आज और आज से पहले, कुंवर नारायण,पृ.सं. 84

¹³वही,पृ.सं. 85

¹⁴आज और आज से पहले, कुंवर नारायण,पृ.सं. 93-94

पहचान को इसीलिए महत्व देती दिखती है क्योंकि वे साहित्य को 'भाषा में मनुष्य की पूरी चेतना का स्पंदन' समझते हैं। अपने इस तर्क की पुष्टि के क्रम में वे गालिब, मिल्टन, शेली, शेक्सपियर के साहित्यिक अवदान का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

इस पुस्तक के आगे के कुछ निबंध हिंदी की नई कविता के ऊपर टी.एस. इलियट के प्रभाव, उसके रूप और कथ्य तथा पाठक के साथ उसके संबंध को समझने-समझाने की प्रक्रिया में लिखे गए हैं। नई कविता की बुनियादी समस्याओं और उसके सिद्धांतों तथा उपलब्धियों पर विचार करते हुए वे उसे 'विश्वव्यापी साहित्यिक चेतना' की देन कहते हैं। इसकी वैचारिक पृष्ठभूमि को वे इलियट से पहले यूरोप और अमरीका में प्रचलित प्रतीकवाद, बिंबवाद और सूरियलिज्म जैसे साहित्यिक आंदोलनों से जोड़ते हैं। इनमें कई प्रसिद्ध यूरोपीय, अमरीकी और रूसी रचनाकार-आलोचक शामिल हैं। इसके बाद इस साहित्य की परंपरा के ऐतिहासिक-बोध को इलियट ने ग्रहण कर इसे और अधिक सक्षम और साहित्यिक-दृष्टि से परिपक्वता प्रदान की। उसकी कविताओं, जैसे –'वेस्टलैंड' और आलोचनात्मक निबंधों का प्रौढ़ प्रभाव हिंदी की नई कविता पर दिखाई देता है।

उसका प्रभाव नई कविता के रूप और कथ्य पर भी पड़ा परंतु उसकी अपनी जातीय दृष्टि जो कि स्वतंत्र भारत की चेतना के नए अहसास का प्रतिफल है, से प्रभावित रही है। इस नए अहसास में नई ताजगी के साथ –'जल्दी-से-जल्दी' प्रकट होने की बेचैनी भी घुली हुई है। यह बेचैनी उसके स्वरूप की संरचना में एक खास तरह के अधैर्य के रूप में अपना स्पेस पाती है। एक प्रकार से 'उस बुनियादी धैर्य के प्रति अधैर्य' की जो छायावादी कविता में खासतौर पर निराला की काव्य-संरचना में प्रकट हुआ, जिसकी अपने तरीके की अभिव्यक्ति नई कविता में हुई। इस नई काव्य-संरचना के साथ पाठकीय अभिरुचि का प्रश्न स्वाभाविकतौर पर नए रूप में हमारे सामने आता है।

कविता के पाठक या उसके प्रकाशन का कम या अधिक होना उनकी दृष्टि में किसी भी रूप में चिंता का विषय नहीं है। इन समस्याओं के बने रहने के बावजूद कविता अभी भी अपनी परिपक्व रचनात्मक ऊर्जा को लिए हुए लिखी जा रही है। इस बात से जुड़ा हुआ उनका तर्क है कि "प्रकाशन का अलग तर्क होता है और कविता के लिखे जाने का बिल्कुल अलग। वह आदमी के स्वभाव में होती है : इसीलिए आज भी ऐसा कुछ नहीं है जो उसके जीवन में कविता की जगह को ले सके। आर्थिक-आकर्षण अच्छी कविता को न तो बहुत

प्रोत्साहित ही कर पाते हैं न विपरीत परिस्थितियां उसे नष्ट ही। इसीलिए अक्सर वह परेशान, प्रतिकूल और असुरक्षित समयों में भी सशक्त अभिव्यक्ति का साधन रही है। समय के साथ कविता बदलती है, समाप्त नहीं हो जाती और इस बदलाव को आज की महत्वपूर्ण कविताओं में स्पष्ट महसूस किया जा सकता है।¹⁵

कविता का पक्ष हमेशा से 'मानवीय मूल्यों' का पक्ष रहा है। इस वजह से पक्षधरता हमेशा से 'अमानवीयकरण के खिलाफ तीखी प्रतिक्रिया' भी रही है। समकालीन संदर्भों में देखा जाए तो काव्यात्मक-अभिव्यक्ति सिर्फ बुनियादी आवेगों की अभिव्यक्ति भर नहीं है बल्कि आवेगों की इस प्रकृति के प्रति 'सचेत और सतर्क' कार्यवाही भी है। इसलिए यह 'समकालीन जीवन से ज्यादा पक्षों' को टच करने वाली कविता है जिसकी दृष्टि और भाषा विस्तृत और विविध है। इन अर्थों में उनके लिए कविता आज के पाठक से 'अतिरिक्त धैर्य और प्रबुद्ध उत्साह' की अतिरिक्त मांग करती है क्योंकि आज वह आकर्षण से अधिक खोज का संभावित संसार भी है।

कविता में आत्म का पक्ष अपनी अहमियत के साथ सतत मौजूद रहता है। लेकिन जब तक यह आत्म

किसी आत्मिक अनुभूति को नहीं महसूस करता तब तक 'मनुष्यकी मानसिकता का विकास और विस्तार' नामुमकिन सा है। इस अनुभूति का विस्तार सह-अनुभूति के रूप में होता है। कविता का निर्माण भी इसी प्रक्रिया की प्रारंभिक कोशिश का परिणाम है जो 'आदमी और आदमी के बीच या आदमी के साथ, सही और सच्चे रिश्ते' के गणित की खोज है। इसीलिए वे कविता में मैं (आत्म) और उसके शब्दों के आपसी अंतर्द्वंद्व को 'अनुभव और भाषा' का 'सार्थक और प्रामाणिक रिश्ता' मानते हैं जिसको 'प्रामाणिक अनुभव की भाषा' भी वे कहते हैं। रचना में प्रामाणिक अनुभव की भाषा सिर्फ 'तात्कालिक उपयोगिता के संदर्भ' में नहीं बल्कि इसके 'संपूर्ण सर्जनात्मक इस्तेमाल' में निहित है। यह तभी संभव है जब हम यह मानकर चलें कि "माध्यमके रूप में भाषा एक साधनभी है और एक खोज भी : उपयोगी तथा उपयोगिता-निरपेक्ष दोनों रूपों में।"¹⁶ इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सिर्फ प्रत्यक्षबोध पर ही नहीं कविता में शब्दों की स्थिति परोक्षबोध पर भी निर्भर है। यह स्थिति 'उन ऐतिहासिक सांस्कृतिक संदर्भों' से जुड़ी है; जिन तक कविता अपनी शाब्दिक-अस्मिता के माध्यम से पहुंचने का सतत प्रयास करती है।

¹⁵आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 122

¹⁶आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 131

इन्हीं अर्थों में वे समकालीन रचनात्मक-चेतना को परिभाषित करते हुए कहते हैं "मेरे लिए एक जागरूक समकालीन चेतना का अर्थ ही यह है कि वह अपनी समग्रता में उसी तरह अपने अतीत को भी सोच और इस्तेमाल कर सके जैसे अपने वर्तमान को और उसे आज की सही ढंग की 'जानकारियों' से जोड़कर देख सके। आवश्यक बात है कि आज का रचनाकार अतीत को, परंपरा को, धर्म को या किसी भी चीज को अपने विशिष्ट रचनाबोध (विश्वदृष्टि?) में किस तरह इस्तेमाल करता है – उनके 'द्वारा' किस तरह के संकेत या संदेश हम तक पहुंचाने की कोशिश करता है।"¹⁷ यह कोशिश ही उनकी नजर में साहित्य, मनुष्य और समाज में इन दोनों की नैतिक भूमिका की खोज और उपयोग को सक्षम और सार्थक बनाने में मददगार साबित हो सकती है।

कविता से जुड़े अहम सरोकारों और सवालियों पर आलोचनात्मक-प्रतिक्रिया के समानांतर कुंवर नारायण हिंदी के कुछ महत्वपूर्ण कवियों जैसे – प्रसाद, निराला, अज्ञेय, मुक्तिबोध, शमशेर, साही पर अपनी आलोचनात्मक-अंतर्दृष्टि डालते हैं। इसके आगे के कुछ लेख महत्वपूर्ण कवियों पर श्रद्धांजलि के रूप में लिखे गए हैं जिनमें उनके निजी एवं साहित्यिक-व्यक्तित्व की

आलोचनात्मक तथा संस्मरणात्मक झलक मिलती है। इनमें मलयज, श्रीकांत वर्मा, सर्वेश्वर, रघुवीर सहाय शामिल हैं।

कविता की बारीकियों एवं कुछ कवियों के व्यक्तित्व की बारीकियों को सहज रचनात्मक अनुभव के रूप में व्यक्त करने के बाद वे इस पुस्तक के आगे के हिस्से में गद्यात्मक विधाओं के ऊपर और इन विधाओं से मुख्य रूप से जुड़े कुछ लेखकों के व्यक्तित्व के ऊपर अपने समीक्षापरक एवं संस्मरणात्मक विचार व्यक्त करते हैं। परंतु इन विचारों से गुजरने के बाद कोई सारगर्भित एवं मौलिक तथ्य उभरकर नहीं आते, सिवाय संस्मरणात्मक-यथातथ्यता के; तथा चुनी हुई गद्य रचनाओं का विश्लेषण किसी ठोस एवं प्रासंगिक तर्क की तरफ इशारा नहीं करते। ये लेखक हैं – प्रेमचंद, सत्यजीत राय, यशपाल और अमृतलाल नागर तथा रचनाएँ हैं – झूठा-सच, गोदान, रेखा, अपने-अपने अजनबी, चारुचंद्रलेख, रागदरबारी, परिंदे, जिंदगी और गुलाब के फूल। लेकिन यशपाल और अमृतलाल नागर से जुड़ी उनकी यादें इन लेखकों के बारे में रोचक तथ्य प्रस्तुत करती हैं। इस रूप में कुंवर नारायण का आलोचनात्मक-अध्ययन 'आज और आज से पहले' के साहित्य, संस्कृति और सामाजिक परिदृश्य पर बेहद

¹⁷आज और आज से पहले, कुंवर नारायण, पृ.सं. 135

विचारोत्तेजक बहस के लिए, स्पेस प्रदान करने वाले तथ्य उपलब्ध करवाता है। इन विचारसूत्रों के दायरे में ही उनकी आलोचना-प्रक्रिया अपना आकार ग्रहण करती

है। इसमें आधुनिक भावबोध की अहम भूमिका है; जो जातीय अस्तित्व और अस्मिता के विकास की प्रक्रिया के स्रोत से जुड़ा हुआ है।

संपर्क : **Dr. Rakesh kumar singh,**
Assistant professor, Hindi (contractual),
dept. Of Hindi, dessh,
rie(ncert) Bhubaneswar, sachivalaya Marg,
Bhubaneswar-751022(Odisha).
Mob. No. 9441235649, 8895912124.
Email. singhhcu@gmail.com